संपादकीय

कबीर की जीवन-दृष्टि

अपुष्ट प्रमाणों, पर परिस्थितिजन्य साक्ष्यों पर आधारित अनुमान के मुताबिक महात्मा कबीरदास के परिनिर्वाण के लगभग 500 साल पूरे होने जा रहे हैं। इतने बरसों बाद कबीर और उनकी वाणी सार्थक व प्रासंगिक है, तभी तो उनके पद चौथी-पाँचवीं कक्षा से लेकर बी.ए., एम.ए. तक पढ़ाए जाते हैं। भारतीय और विदेशी विश्वविद्यालयों में कबीर पर बहुतायत में लघु एवं बृहद शोध प्रबंध लिखे जा चुके हैं। कबीरवाणी की टीकाएँ व आलोचनात्मक पुस्तकों की संख्या भी सैकड़ों में है। इधर-उधर बिखरे कबीरपंथियों की तादाद इस समय लाखों में है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि ये सारे कार्य कबीर और उनके विचारों को ठीक-ठीक हृदयंगम कर-करवा रहे हैं। खैर! अब तो उनके देहांत हुए बहुत समय बीत चुका है, किंतु कबीर के सामने ही संगी-साथियों व अनुयायियों द्वारा उनके विचारों के प्रतिकूल कार्य दृष्टिगत होने लगे थे। तभी उन्हें कहना पड़ा था कि 'मो शिर ढारैं ढेकुली, सीचै और की क्यारी।' धर्मपंथी कहलाने वाले लोग धर्म-भक्ति की अवहेलना ही नहीं, उसके उलट आचरण भी करने लगे थे। कबीर ने कहा था -'ओंकार आदि जो जन जानैं, लिखि के मेटैं ताहि को मानैं।' अस्तु, कबीर की साधारणता इतनी असाधारण थी, उनकी सहज वाणी इतनी अद्भुत थी कि सब लोगों को उसमें कुछ न कुछ अपने लिए मिल जाता था-

हिन्दू कहै हमहि लै जारौ, तुरुक कहै हमरौ पीर।
दोउ आय दीन पर झगरै, ठाड़ै देखे हँसे कबीर।।

बहरहाल, 'मसि कागद छुयो नहीं, कलम गहि नहीं हाथ' कहने वाले कबीर अध्ययन-अनुसंधान के प्रिय विषय बन चुके हैं, क्योंकि वे खुद भी 'सुधि बिनु सहज ज्ञान बिनु ज्ञाता, कहहिं कबीर जन सोई' के परम विश्वासी थे। लिखना-पढ़ना प्रारंभिक शिक्षा के लिए एक साधन तो है, पर वह न तो सब कुछ है और न ही आत्मज्ञान के लिए आवश्यक ही। यह बात कबीर की आत्मसाधना से उपार्जित आत्मज्ञान की प्राप्ति तथा साखी, सबद और रमैनियों में उसकी अभिव्यक्ति से स्पष्ट है। शास्त्रीय परंपरा से ज्ञानार्जन की बजाय आत्मचेतना को उद्दीप्त कर धर्मचेता बनने वाले और 'ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय' के उद्घोषक कबीर प्रेम की पीर ;विरह-मिलनद्ध से गुजर कर ज्ञानी कहलाए। कबीर के अनुसार बहुत कुछ जानने वाले, किंतु 'आत्म' से अनजान रहकर 'परमात्म' से भी दूर रहने वाले का सारा जानना बेकार होता है। यदि आत्म को जान लिया जाए और उसी माध्यम से परमात्म को भी, तो उस एकमात्र के जान लेने से सारा ज्ञान सहज ही उपलब्ध हो जाता है -

कबीर एक न जाणियाँ, तौ बहु जाणियाँ क्या होय।
एकै तैं सब होत हैं, सब तैं एक न होय।।

योग-वैराग, ज्ञान-कर्म और धर्म-भक्ति के उच्चतम स्तर की साधना सामान्य जनों के लिए अमूमन दुःसाध्य होती है, इसलिए समय-समय पर इनकी सुगम-सरल रीति-नीति अपनाने पर जोर दिया जाता रहा है। कबीर के समय सहज भक्ति के अनेक मार्ग प्रचलित होकर भूलभुलैया सिद्ध होने लगे थे -'चलन चलन सब कोई कहै, ना जानो बैकुंठ कहाँ है।' इसलिए कबीर का क्षोभ भी प्रकट हुआ -'सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्हैं कोई' और 'सहज सहज सब कोई कहै, पहुचैं बिरला कोई।' ऐसे में व्यक्ति का पूरा जीवन सांसारिक क्षुद्रताओं, तुच्छताओं व संकीर्णताओं के इर्द-गिर्द चक्कर लगाते खत्म हो जाता है; कबीर के शब्दों में 'ज्यौं तेली के बैल को, घर ही कोस पचास' की तरह यह होता है। अज्ञानता के आच्छादित वातावरण में साधन-साध्य और राह-मंजिल की उधेड़बुन तथा भटकावभरी यात्रा में नरक स्वर्ग सदृश और स्वर्ग नरक बन जाता है -'अनजाने का स्वर्ग नरक है, हरि जाने को नाहिं।' जो स्वर्ग है, वही ज्ञानहीन के लिए नरक बन जाता है और ज्ञान द्वारा नरक भी स्वर्ग सदृश बनाया जा सकता है। संसार में लोग मूलतः दुख को ही जड़तावश सुख मानकर खुशियाँ मनाते है,' जबकि असलियत कबीर की अनुभवाश्रित ज्ञानवाणी में अभिव्यक्त है -

ऐसा कोई न मिलिया जासौ रहिए लागि।
ई जग जलते देखिया अपनी अपनी आगि।।

इसलिए कबीर संसार और उसके तथाकथित सुखानंद से जुड़ना नहीं चाहते। इस निस्सार, पर अपरिहार्य संसार के प्रति कबीर सावधान भी करते हैं -'रहना नहीं देश बेगाना है, यह संसार कागद की पुड़िया बूँद पड़ै घुल जाना है।' उनकी दृष्टि में सांसारिक जंजालों का भरा-पूरा घर जब नष्ट होता है तो अलौकिक राम का घर जगमगाता है और जहाँ सांसारिक घर भव्य होता है, वहाँ दिव्य राम का धाम दृष्टिगत नहीं होता। कबीर को आश्चर्य है कि अनश्वर जीवन संसार अनश्वर-कालातीत दिव्यधाम को खा रहा है। कबीर आत्मिक शुद्धि तथा आचरण की दृढ़ता के आग्रही हैं। वे मिथ्याचारों, आडंबरों, अंधविश्वासों, कुरीतियों को सद्कर्म, आत्मज्ञान, योग-साधना, धर्म-भक्ति से विच्छिन्न करने वाले बड़े कारक मानते हैं। बाह्याडंबरों और कर्मकाडों का उन्होंने पूरा-पूरा खंडन किया है। यही नहीं, कबीर इद्रियों द्वारा की गई स्तुति एवं नामस्मरण को बिलकुल सार्थक नहीं; वरन् मन-मस्तिष्क, हृदय-अंतरात्मा से की जाने वाली आराधना को वरेण्य बताते हैं। नामस्मरण से भगवत्गुणों का आत्मसातीकरण हो, तभी वह उपयोगी है -

माला तो कर में फिरै जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुआँ तो दसु दिसि फिरै यह तो सुमिरन नाहिं।।

कबीर ने 'कंचन' यानी धन और 'कामिनी' यानी देहधारियों की विलासिता-कामुकता को भक्ति-साधना के मार्ग में अवरोधक माना है, माया और अविद्या का प्रतिरूप कहा है। इनके चलते न तो साधना सिद्ध हो होती है और न भक्ति फलितार्थ; कथित रूप में धर्म होने का भले दावा किया जाए, क्योंकि काफी समय से 'धनात् धर्मम् ततम् सुखम्' अर्थात् धन से धर्म होने की बात कही जाती रही है, पर मानना पड़ेगा कि धन धर्म

से च्युत भी करता है और बिना धन के किया जाने वाला धर्म अधिक धार्मिक भी हो सकता है। इसलिए कबीर 'मैं भी भूखा ना रहूँ साधु ना भूखा जाए' तक की जरूरत भर धन की आकांक्षा रखते हैं, वहीं यह भी कहते हैं -

जो जल बांढै नाव में घर में बाढ़ै दाम।
दोउ हाथ उलीछिए यही सयानो काम।।

परमात्मा के प्रति कबीर में गजब की आस्था, श्रद्धा, विश्वास व समर्पण भावना है। वे स्वयं को 'राम का कुत्ता' कहते हुए परमात्मा के प्रति वफादारी की पराकाष्ठा दर्शाते हैं -'कबिरा कुत्ता राम का मोतिया मेरा नाउ,' तो कभी भगवान से शिकवा-शिकायत करते हुए पूछते हैं कि अच्छे सेवक के गुणों का अभाव होने के कारण सेवा-भावना ग्रहणीय नहीं है? अथवा मेरे सेवा भाव को आप समझ नहीं पा रहे? -'हमहीं कुसेवक कि तुमहीं अग्याना, दोउ में दोष कहौ किन रामा।' वे निर्गुण-निराकार ब्रह्म के उपासक हैं, इसलिए राम के लिए 'दशरथ सुत तिहु लोक बखाना, राम नाम का मरम न जाना' तक कहते हैं। कबीर के गुरू माने गए रामानन्द की रामाराधना से भी कम ही इत्तफाक रखते हैं -'रामानन्द राम रस माते, कहै कबीर हम कहि कहि थाके।' कृष्ण के अवतारी रूप पर भी अलग राय रखते हैं -'लोग कहै गोवरधन धारी, याकौ मोहि अचंभौ भारी। अष्टकुली परबत जाके पग की रैना, सातों सागर अंजन नैना।' इतना ही नहीं, वे आगे कहते हैं -'कहै कबीर करता नहिं होई, जो करमा हाथि बिकाया।' अर्थात् कर्म और भोग के हाथों का खुद खिलौना रही सत्ता कभी कर्त्ता हो ही नहीं सकती। कबीर के निर्गुण-निराकार आराध्य इतने गुणातीत और आकारातीत बन चुके हैं, जिनका बखान संभव नहीं -

सात समंत की मसि करौं लेखनी सब वनराई।
धरती सब कागद करौं हरि गुण लिखा न जाई।।

राम की परमसत्ता तो कस्तूरी की तरह मन-मृग के बिल्कुल सन्निकट रहती है, फिर भी आत्मा कभी बेचैन होती है तो कभी उदास होकर मुरझाने लगती है; कबीर एहसास दिलाते हैं - 'काहै रे नलिनी तूँ कुम्हलानी, तेरी ही नालि सरोवर पानी।' दुनिया चाहे अज्ञानतावश या अहंकारवश न देख पाए, पर परमात्मा सर्वव्यापी है, सर्वत्र है। साढ़े पाँच सौ साल पहले के कबीर के भजन से आज भी कितनी ताजगी, संजीवनी, स्फूर्ति व नयी ऊर्जा मिलती है, इसकी व्यावहारिक प्रासंगिकता की एक बानगी तो देखिए -

मोको कहाँ ढूढ़ता बंदे मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मस्जिद, ना काबा कैलास में।
न तो कौनो क्रियाकर्म में, नाहिं योग वैराग में।
खोजी होय तो तुरतै मिलिहै पल भर की तलाश में।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसों की स्वाँस में।

कबीर ने अंतःसाधनात्मक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए उलटवाँसियों का अजब-गजब प्रयोग किया है। ये रहस्यात्मक उलटवाँसियाँ पहेलियों की तरह रोचक तथा जिज्ञासापरक हैं, तो दूसरी ओर गहन अर्थज्ञान को अभिव्यक्त करने में समर्थ भी हैं। हालाँकि इनकी प्रतीकात्मक गहनता को समझना सामान्य जनों के बूते की बात नहीं है। उदाहरणस्वरूप, 'हम बहनोई राम मोर सारा' में कबीर बताते हैं कि शरीर रूपी जीव राम रूपी सारतत्व को वहन करने वाला आधार है। इसी प्रकार वे कहते हैं कि मन रूपी सिंह इन्द्रिय रूपी गायों को चरा रहा है। पुत्र के रूप में जीव पहले आता है, जबकि माया रूप में माँ बाद में। अमूमन सिंह गाय को खाता है, चराता नहीं - इसलिए प्रथमदृष्ट्या आश्चर्य होना लाजिमी है -एक अचंभा देख्या रे भाई, ठाड़ा सिंह चरावै गाई। पहिले पूत पाछे भई माई, चेला के गुर लागै पाई।।

कबीर ने अविद्या रूपी पुत्री से भ्रम रूपी पिता के जन्म लेने की बात कही है -'एक अचंभा देखिया, बिटिया जायो बाप।' अविद्या अपने भ्रम रूपी पिता से श्रेष्ठ ज्ञान रूपी वर से विवाह कराने को कहती है, जब तक विवाह नहीं हो जाता, तब तक पिता से ही विवाहित रहने की इच्छा जताती है। ठीक भी है क्योंकि जब तक उत्तम ज्ञान नहीं मिलता, तब तक भ्रम के घर में ही रहना पड़ता है। सही ज्ञान से भ्रम दूर होता है, अन्यथा नहीं; 'गलत ज्ञान' से दिग्भ्रम और बढ़ता है -

बाबुल मेरा ब्याह करि, वर उत्तम ले आहि।
जब तक वर पायौ नहीं, तब लौ तूँ ही ब्याहि।।

वास्तव में कबीर संत सुधारक, उपदेशक, विद्रोही कवि, निर्द्वन्द्व योग-साधक और क्रांतिदर्शी थे, जिन्होंने अपनी आभा से साहित्य, संस्कृति, धर्म व अध्यात्म लोक को आच्छादित किया। हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, ''कबीर मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे, हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे, वे साधु होकर भी साधु नहीं थे, वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे, योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे भगवान की ओर से कुछ न्यारे बनाकर भेजे गए थे।'' वस्तुतः वे सबके मिले-जुले रूप थे। कबीर ने सामाजिक, धार्मिक मान्यताओं को जर्जर कर रही कुप्रवृत्तियों, मिथ्याचारों, आडंबरों पर चुन-चुन कर प्रहार किया; धर्म-भक्ति को वास्तविक सरोकारों से जोड़ने गुरुत्व दायित्व निभाया, जनसाधारण को साधना के कठोर रास्ते से विमुख कराकर सीधे-सरल तरीकों की ओर उन्मुख किया। इस प्रकार रामानन्द द्वारा दक्षिण से उत्तर की ओर लाई गई भक्ति को व्यापक बनाया -

भक्ति द्राविड़ी उपजी लाए रामानन्द।
परगट किया कबीर ने, सप्तदीप नवखंड।।

आज धर्म, भक्ति, अध्यात्म को व्यावसायिक-बाजारू धंधे का रूप देकर अनात्मिक, अधार्मिक बनाया जा रहा है, तो एक बार फिर कबीर के वैश्विक कालजयी स्वरों से विकृतियों को आसानी से चिन्हित कर संस्कृति को सुदिशा की ओर मोड़ा जा सकता है, जिससे नवीन मानवीय जीवन मूल्यों की भावसरिता प्रवाहित हो सके।